

ज्ञान-समाज, सूचना-समाज तथा उपभोक्ता-समाज जैसी अवधारणाएँ जो सारतः अमरीका केंद्रित एकाधिकारवादी पूँजीवाद (जिसके समकालीन स्वरूप को नवसाम्राज्यवाद भी कहा जाता है) की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थिति और 'अन्य' पर पड़ते उसके कुप्रभावों को अभिव्यक्त करती हैं- अक्सर हाशिय पर के देशों में परिप्रेक्ष्य से टूटकर व्यवहृत होती रही हैं। ऐसा कुछ लोग फैशन के रौ में बहकर करते हैं। मगर एक कारण और भी है- और वह ज्यादा गंभीर है- वह यह कि हाशिय पर के देशों में नवसाम्राज्यवाद के ढेर सारे उपकेंद्र उठ खड़े हुए हैं और जो स्थानीय तौर एकाधिकार पूँजीवाद से संस्रय स्थापित कर उसके न सिर्फ पूँजीगत हितों के बल्कि राजनीतिक-सांस्कृतिक लक्ष्यों के भी झंडाबरदार बने रहते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि उनके सारे हित व लक्ष्य एक दूसरे को सहारा देते हैं। यह अजीब विडम्बना है कि उनके स्थानीय प्रतिनिधि उन हितों व लक्ष्यों से अपने राष्ट्रीय हितों व लक्ष्यों को जोड़ने में अक्सर सफल रहे हैं। इनकी रणनीतियाँ, इनके हित व मजबूरियाँ क्या रही हैं- विषय को समझने के लिए इन्हें भी समझना आवश्यक है। उत्तर- औद्योगिक समाज कोई कोरी समाज शास्त्रीय अवधारणा नहीं है- यह नवसाम्राज्यवाद के वैश्विक शोषण और वर्चस्व को बनाये रखने वाली उसकी रणनीति का एक हिस्सा व अस्त्र है। कारण कि यह साम्राज्यवाद के अस्तित्व और उपस्थिति को ही खारिज करता है। फिर यह हाशिय के देशों के लिए एक मॉडल के बतौर खुद को प्रस्तुत कर अपने केंद्र का हित साधन करता है। एक अवधारणा के रूप में यह 'विचारधारा का अंत' वाली अवधारणा का अगला विकास है- इस तरह यह फ्रैंकफर्ट स्कूल से भी जुड़ता है और कॉंग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम (ccf) से भी। कहना न होगा यह विमर्श विचारधारा के इतिहास से स्वतः ही जुड़ जाता है। इन सब के पीछे पूँजीवाद के प्रसार, प्रतिरोध, स्वीकृति और मिथ्याचरण की व्यावहारिक- वैचारिक कहानी चलती रहती है।

विचारधारा का इतिहास:

अमेरिका में सन् 50 में राजनीतिक विचारधाराओं का जो अध्ययन शुरू हुआ वह फ्रांसीसी क्रांति के वक्त के फ्रेंच दार्शनिक एनटोआइने डेसटूट जी ट्रेसी के 'विचारों के वैज्ञानिक अध्ययन' वाली पद्धति से प्रभावित था। इस पद्धति के अनुसार ऐसे अध्ययन 'वैज्ञानिक तटस्थता से पूर्ण तथा धार्मिक और भावात्मक दुराग्रहों से रहित होने चाहिए'¹। ऐसे अध्ययन को 'आइडियोलॉजी' नाम दिया गया। इसे एक ऐसा ज्ञान-मीमांसात्मक आधार तैयार करना था जो अन्य ज्ञानधाराओं को पुष्ट और प्रामाणिक बनाए। सन् 50 के 'विचारधारा का अंत' वाले विचारक भी तथ्य और मूल्य को अलग करके विचारों के empirical और वस्तुनिष्ठ परीक्षण पर जोर देते थे। असल में ये विचारक 'प्रत्येक मुद्दे को उसके मेरिट पर लेना चाहते थे'²। कारण कि ये सब-के-सब वैचारिक तौर पर 'इरेशनालिटी और राजनीतिक तौर पर प्रति-सर्वसत्तावाद की अवधारणा से प्रतिबद्ध थे'³। इस वक्त तक चूंकि बोल्शेविज्म एक विचारधारा के बतौर उभर चुका था इस कारण बोल्शेविज्म की इनकी अपनी विध्वंसक व्याख्या थी और इसके माध्यम से ये विचारक किसी भी तौर की विचारधारा की मुखालफत करते थे। विचारधारा की ताकत को एक तरह से स्वीकृति दे जाते हुए इसकी मुखालफत सन् 1812 में रूस से हारने के बाद नेपोलियन ने भी यह कहकर की थी कि यह 'दुर्भाग्य (हार) विचारधारा के कारण आया है'⁴। मगर आइडियोलॉजी पर सबसे ज्यादा संघातक प्रहार मार्क्सवाद के संस्थापकों द्वारा हुआ। 'जर्मन आइडियोलॉजी' में, जो मार्क्स-एंगेल्स की संयुक्त रचना है, यह स्पष्ट कर दिया गया है कि 'जो क्लास खुद को सत्तारूढ़ कर लेता है वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बाध्य है कि अपने स्वार्थों को पूरे समाज के सामान्य हित बताकर पेश करे'⁵। यानी कि वर्ग-

विभक्त समाज में शासक वर्ग की विचारधारा और कार्यक्रम partial और वर्गीय होते हैं जिन्हें वह यूनिवर्सल (यानी कि सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय) बता-बनाकर पेश करता है। यह एक तरह का वैचारिक सर्वसत्तावाद है जिसके व्यवहृत रूप पूँजीवादी जनतंत्रों के राज्यतंत्रों और विधानों में देखे जा सकते हैं और जिन पर मार्क्स-एंगेल्स ने ज़बरदस्त प्रहार किया है। इन दोनों ने हिगेलियन आइडियलिज्म को पूरी तौर से खारिज करते हुए कहा कि विचार मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक सत्ता से निर्धारित होते हैं। इस तरह आम जन के विचारों को शासक वर्ग की विचारधारा खुद से स्थानांतरित करके एक तरह से उलट देती है। एंगेल्स ने ऐसे विचारों को 'मिथ्या चेतना' कहा है। पूँजीवाद की खास परिस्थिति में स्रमजीवियों और लोगों की चेतना अपने पक्ष और हितों को पहचानने लगती है और तब सत्ता से उनका संघर्ष विविध रूपों में विभिन्न जनसंगठनों- राजनीतिक दलों के माध्यम से फूटने लगता है। शासक वर्ग इनके खिलाफ अपने संगठन और संस्थाएँ खड़ी करके अपना पक्ष साधन करता है। जनता के संघर्ष के जो स्वप्न और कार्यक्रम होते हैं उन्हें मैनहेम ने एक सम्मिलित अवधारणा में समेटते हुए यूटोपिया नाम दिया है। अपने ग्रंथ 'आइडियोलॉजी और यूटोपिया' में उन्होंने आइडियोलॉजी की वैसी ही मुखाफल की है जैसी मार्क्स-एंगेल्स ने की है, मगर यूटोपिया को वे पोजिटिव विज्ञान में बदलने का सुझाव देते हैं। इस अर्थ में वे कड़े तर्कवादी- विधेयवादी हैं जो मार्क्सवाद के विरोध में खड़ा हैं। एंगेल्स ने आइडियोलॉजी को शासक वर्ग की विचारधारा के बतौर रेखांकित करते हुए जहाँ इसे निगेटिव अर्थ में लिया था वहाँ लेनिन ने एक बदले हुए संदर्भ में जब सोसलिस्ट आइडियोलॉजी⁷ की बात की तो इसे पोजिटिव अर्थ दे दिया। अब यह मिथ्या चेतना के बदले बहुसंख्यक जनता की 'वर्ग चेतना'⁸को रिप्रजेंट करने लगी। इस प्रोपोजिशन में यह तथ्य अंतर्निहित है कि समाजवाद के दौर में बुर्जुआ और पूर्व शासकों का- यानी कि नये-पुराने अभिजनों का- एक अल्पसंख्यक वर्ग और उसकी विचारधारा भी सक्रिय और संघर्षरत रहती है।

'विचारधारा का अंत' की विचारधारा

'उत्तर-औद्योगिक समाज' की अवधारणा का बीज 'उत्तर-औद्योगिक समाज का आगमन' के लेखक डेनियल बेल की एक पूर्व पुस्तक 'विचारधारा का अंत' में पड़ चुका था। डेनियल बेल की माने तो विचारधारा का 'तकनीकी निर्णय प्रक्रिया' से छत्तीस का संबंध है। पहला इमोशनल और एक्सप्रेसिव है जबकि दूसरा कैलकुलेटिंग और इन्सट्रूमेंटल। बेल के अनुसार 'विचारधारा का अंत' की विषय-वस्तु(थीम) पारंपरिक राजनीतिक पैशन का अवशोषण है, जबकि उत्तर-औद्योगिक समाज का थीम राजनीति से टेक्नोक्रेटिक विचारों के संबंध का आकलन है। टेक्नोक्रेटिक विचारों ने वस्तुतः पारंपरिक राजनीति को स्टेट अफेयर से विच्छेदित कर दिया है। इस विच्छेद को ही विचारधारा का अंत कहते हैं। तो क्या बेल को कार्य(विचारधारा का अंत) का अनुभव कारण(उत्तर-औद्योगिक समाज का आगमन) के उत्पन्न होने से पहले हो जाता है। बिल्कुल नहीं। सी.सी.एफ के मिलान कॉन्फ्रेंस में जितने भी पेपर पढ़े गये हैं उनका केंद्रीय थीम है- विचारधारा का अंत। वहाँ डेनियल बेल ने जो पर्चा पढ़ा है उसका थीम है 'द ब्रेक ऑफ फ़ैमिली कैप्टलिज्म' जो उत्तर-औद्योगिक समाज की महत्वपूर्ण लाक्षणिक विशेषता है। डेनियल बेल ने यहाँ इसे 'विचारधारा का अंत' वाले स्पिरिट से जोड़ रखा है। असल में 'विचारधारा से 'तकनीकी निर्णय- प्रक्रिया' का संबंध भले ही छत्तीस का है 'विचारधारा का अंत' और 'उत्तर-औद्योगिक समाज' के पीछे की राजनीति एक ही है- लिबरल डेमोक्रेसी और वेलफेयर स्टेट के घालमेल से कम्युनिस्ट क्रांतियों की संभावना- यहाँ तक कि उनके(यानी कि लिबरल डेमोक्रेसी और वेलफेयर स्टेट के) खिलाफ फूट पड़ने वाले जनांदोलनों-जनउभारों तक की संभावना को दफन करना- उनकी लेजिटिमेंसी को ही निर्मूल करके रख देना। और यह राजनीति केवल आवधारणा में नहीं, अमल में भी फलती-फूलती और बलवती होती है।

काँग्रेस फॉर कल्चरल फ़िडम का बीजवपन कोमिन्तर्न द्वार मार्च 1949 में न्यूयार्क के बोलडर्फ-एस्टोरिया होटल में आयोजित शांति सम्मेलन की प्रतिक्रिया में हुआ था। कोमिन्तर्न द्वारा ऐसे सम्मेलन सितम्बर 48 से यूरोप के विभिन्न देशों में लगातार आयोजित किये जा रहे थे। बोलडर्फ-एस्टोरिया होटल में साहित्य और कला से संबंधित करीब 800 प्रतिनिधियों का सम्मेलन के बीच में अचानक दार्शनिक सिडनी हुक के नेतृत्व में मुट्ठी भर लोग सम्मेलन हॉल में प्रवेश कर अपने तरीके से अनाप-शनाप प्रश्न करने लगे जिससे

कुछ देर के लिए अफ़रा-तफ़री का माहौल पैदा हो गया। ज़ाहिर है मीडिया ने इस घटना की नोटिस ली और तब यह खबर वाशिंगटन स्थित सी आई ए की पूर्वज संस्था 'office of policy co-ordination' (o.p.c) तक पहुँची जिसके एक सदस्य फ्रैंक वाइज़नर ने इसमें विशेष रुचि ली। सिडनी हुक न्यूयार्क विश्वविद्यालय में अध्यापक, पत्रिका 'न्यू लिडर' के संपादक और भूतपूर्व कम्युनिस्ट थे तथा दस वर्ष से अपने संरक्षक जॉन डेबी के साथ 'कमिटी फॉर कल्चरल फ़िडम' नामक संस्था चला रहे थे। सिडनी हुक ने न केवल शांति सम्मेलन को बाधित किया बल्कि उसी होटल में अपनी कमिटी की बैठक भी की जिसमें अगली बैठक पेरिस में करने का प्रस्ताव पास हुआ। फ्रैंक वाइज़नर ने इस कम्युनिज्म और स्तालिन विरोधी संस्था के संपोषण और नियंत्रण की खातिर अपने तंत्र और संपर्कों को साधना शुरू किया। फिर तो वाइज़नर के साथ यूरोपीय संपर्कों के माहिर इरबिन ब्राउन, स्टेट ऑफिस के यूरोपीय मामलों के अधिकारी रेमंड मरफ़ी तथा अन्य प्रासंगिक लोग व अधिकारी एक-दूसरे से जुड़ते चले गये। वाइज़नर के साथ एक सम्मिलित बैठक में रेमंड मरफ़ी ने मार्शल प्लान के मैनेजर्स को समझाया- 'क्रेमलिन खुद को शांतिकामी तथा अमेरिका और यूरोपीय प्रजातंत्रों को युद्धप्रेमी और फ़ासिस्ट के बतौर रेखांकित कर रहा है...इसलिए एक प्रति- सम्मेलन आवश्यक है'¹⁰। उसने ऐसे सम्मेलनों के लिए 5 विलियन फ्रैंक(16000 डालर) की माँग भी रखी। आखिरकार 30 अप्रैल 1949 को पेरिस में काउन्टर कॉफ़्रेस आयोजित हुआ जिसमें रेडिकल और तटस्थ लोगों का दबदबा रहा। ज़ाहिर है अमेरिका समर्थक और o.p.c को निराशा हाथ लगी क्योंकि इसमें anti-Americanism भी किसी- न-किसी रूप में मुखर था। इस अनुभव के बाद यूरोप-अमेरिका के तमाम कम्युनिस्ट-विरोधी और स्तालिन-विरोधी लोग एक प्रभावशाली कम्युनिस्ट-विरोधी कॉफ़्रेस के आयोजन के बारे में सोचने लगे। इस क्रम में अगला कॉफ़्रेस 26 जून 1950 को बर्लिन में हुआ जिसे कॉंग्रेस फॉर कल्चरल फ़िडम नाम दिया गया और जिसके लिए o.p.c मुख्यालय ने अमेरिकी सेना और जर्मनी पर क्राबिज़ अमेरिकी occupational सरकार से जुड़े अपने पदाधिकारी जोसेल्सन के माध्यम से 50 हजार डॉलर छुपे रूप में मुहैया कराये¹¹। यह एक सफल आयोजन था। इसमें कमियुनिज्म को रोकने को लेकर सर्वानुमति थी मगर प्रक्रिया को लेकर मतभेद उभर आया था जिसे पाटने के लिए फ़िडम के प्रति प्रतिबद्धता पर विशेष जोर डालते हुए 'फ़िडम घोषणा-पत्र' जारी किया गया। यहाँ 'अमेरिकी प्रतिनिधियों से असिस्टेंट सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फॉर पब्लिक अफ़ेयर्स इस हद तक प्रभावित हुआ कि उसने सी आई ए को इस कॉंग्रेस को लगातार प्रायोजित करते रहने का आग्रह किया'¹²।

बर्लिन के बाद अगला सी.सी.एफ़ का कॉन्फ़्रेस सन् 55 में 'स्वतंत्रता का भविष्य' नाम से मिलान में हुआ जिसमें समाज विज्ञान, दर्शन, तथा साहित्य और राजनीति से जुड़े हुए विभिन्न देशों के 150 से अधिक प्रतिनिधि हिस्सा लिए। इसमें 'विचारधारा का अंत' वाली थियरी न सिर्फ़ एक व्यापक पर्सपेक्टिव और वौद्धिक सेटिंग के साथ उभर आया बल्कि वह वाद- विवाद का- भले ही प्रकारान्तर से- केंद्रीय विषय भी बना रहा। सिडनी हुक के अलावा कॉफ़्रेस में ऐसे चार विचारक- फेंच फिलॉसफ़र रेमंड एरोन, अमेरिकन समाजशास्त्री इडवर्ड शील, मार्टिन लिपसेट, और डेनियल बेल- शामिल थे जो इस थियरी के अग्रदूत कहे जा सकते हैं। नवम्बर 1955 के इनकांटर में इडवर्ड शील का एक आर्टिकल छपा है- 'मिलान की चिट्ठी'। इसके साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि मिलान में पढ़े गये सारे आलेख ' सिद्धांतवाद, फेनाटिसिज्म और विचारधारात्मक अवस्थिति' की चर्चा करते हैं¹³। यह सम्मेलन डूमैन डॉक्ट्रिन, मार्शल योजना, कोरिया युद्ध, सी आई ए और नाटो की उत्पत्ति तथा बांडुग सम्मेलन की पृष्ठभूमि में होता है। शीत युद्ध आकार ले चुका है। यू.एन.ओ, आइ.एम.एफ व विश्व बैंक जैसी संस्थाएँ अमरिकी नीतियों- परियोजनाओं के संवाहक के बतौर पहचान बनाने लगी हैं। इन सब के बीच अमरिकी प्रचार योजना की रणनीति लिबरल डेमोक्रेसिज को विकल्पविहिन और उससे निष्पन्न एक तौर की सीमित मेटाफिजिकल स्वतंत्रता को मानवीय अस्तित्व की अनिवार्य शर्त बतलाकर उनकी आड़ में अपने एकाधिकारवादी पूँजीवाद को विस्तार देने वाली रही है। इसके लिए उसने रणनीतिक पूँजी निवेश भी किया है। दूसरी ओर सोवियत रूस नवस्वाधीन देशों को अमेरिका के आर्थिक-सांस्कृतिक नव-उपनिवेश बनने के विरुद्ध अभियान चला रहा है- वह दुनिया भर में औपनिवेशिक उत्पीड़न के खिलाफ़ चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों व समाजवादी क्रांतियों के साथ भी खड़ा है। इस तरह अमेरिका जहाँ तीसरी दुनिया के देशों में उनके संसाधनों के

दोहन को छिपाते हुए उन्हें सशर्त दिये गये ऋणों के माध्यम से आत्महितकारी विकास कार्यक्रम व विभिन्न फाउन्डेशनों के अनुदानों के माध्यम से समाज सुधार व लोकोपकारी कार्यक्रमों को चला रहा है वहाँ सोवियत संघ स्रम और पूँजी के बढ़ते अंतर्विरोध को स्रम के हक में हल करना चाहता है। ज़ाहिर है दुनिया भर में उसने उदारतावाद, लिबरल डेमोक्रेसी और इससे जुड़ी स्वाधीनता के पाखंड और सीमाओं को उजागर किया है- स्थानीय तौर पर शोषित-शोषक या फिर शासित-शासक वर्गों के दृष्टिकोण से और व्यापक तौर पर साम्राज्यवादी शोषण और वर्चस्व के दृष्टिकोण से। इन सब चीज़ों की धमक 'विचारधारा का अंत' वाले वाद-विवाद में पूँजी, विकास या अमेरिकी विकास मॉडल के पक्ष-समर्थन के साथ देखी जा सकती है। ये समर्थन सारतः मुक्त व्यापार और राज्य हस्तक्षेप के साथ पटरी बिठाकर किया जाता है- राज्य हस्तक्षेप के साथ यानी कि कल्याणकारी राज्य की संकल्पना के साथ। इस तरह मिलान कॉफ़्रेस में पश्चिमी लिबरल डेमोक्रेसिज के भीतर जो कंजरवेटिव- लिबरल विभेद है उसे एक वैचारिक समझौते के साथ सुलझा लिया जाता है- कारण कि पश्चिम में यह समझौता अमल में आ चुका है जिसमें एक हदतक रेडिकल लेफ्ट भी सिमट आया है। बहरहाल, इस वैचारिक समझौते का ही दूसरा नाम 'विचारधारा का अंत' है। सवाल उठता है यूरोप-अमेरिका और तीसरी दुनिया के देशों के बीच जो आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक अंतर्विरोध हैं उन्हें कैसे सुलझाया जाए।

'विचारधारा का अंत' वाले डिबेट में इसे 'Eurocentric रैखिक इतिहास की परिकल्पना' में छू-मंतर सुलझा लिया गया है। रेमंड एरोन द्वारा मिलान कॉफ़्रेस में पढ़े गये आलेख की स्थापना को माने तो पश्चिमी कल्याणकारी राज्य को एक मॉडल के बतौर स्वीकार करके 'एशिया-अफ्रीका के देश भौतिक सम्पन्नता और राजनीतिक स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहे हैं। असल में 'सुदूर पूर्व में पश्चिमी सभ्यता बनाम चीनी-जापानी-भारतीय सभ्यताओं के बीच जो विवाद छिड़ा हुआ है उसमें यूरोप की जीत पक्की है क्योंकि धन हर किसी को चाहिए और यह मशीन की ताकत और तकनीक के कौशल से ही उपार्जित किये जाते हैं'¹⁴। इसकी व्यंजना यह है कि चूँकि इस तरह की ताकत और कौशल में अमरिका आगे है इसलिए विश्व का अग्रदूत भी वही बन सकता है। यानी कि 'विचारधारा का अंत' का मतलब पश्चिमी नव-साम्राज्यवादी आर्थिक-राजनीतिक व सांस्कृतिक वर्चस्व का सीधा आरोपन है। इसे और भी स्पष्ट तौर पर देखने के लिए सिडनी हुक के इस वक्तव्य को देखना चाहिए- उसके अनुसार- 'पूर्व के औपनिवेशिक लोग पश्चिमी ढंग की स्वतंत्रता को हासिल करने के लिए तैयार ही नहीं हैं'¹⁵। यह हवाईट्स मैन वर्डन का दूसरा संस्करण है। लगे हाथ इस संबंध में डेनियल बेल की दृष्टि भी देख ली जाये। उनके अनुसार 'पूर्व के उपनिवेशों और नये जागरित देशों में महत्वपूर्ण सामाजिक समूह की असंयमित अपेक्षाएँ यथार्थ संभावनाओं को पीछे छोड़ सकती हैं, फलस्वरूप साम्यवाद ज़ोर पकड़ सकता है'¹⁵। तीसरी दुनिया के लोग संयम बनाये रखे- साम्राज्यवादी दोहन नाम की कोई चीज़ नहीं- मानवता का शत्रु तो साम्यवाद है- उससे लड़ने में गरीब मुल्क साम्राज्यवाद का साथ दें- यह है 'विचार धारा का अंत' की राजनीति। कुछ लोग इसे राजनीति से परे की राजनीति भी कहते हैं। लिपसेट ने जिसे post-politics कहा है उसका एक अर्थ यह भी है- कि post-politics phase में भी प्रति-साम्यवादी राजनीति छूटती नहीं- सिर्फ तीसरी दुनिया से नहीं, अमेरिका-यूरोप से भी। इस राजनीति के पीछे, ज़ाहिर है, पूँजीवाद- नव-साम्राज्यवाद की कई स्तरों पर सक्रिय विचारधारा कार्य करती है।

उत्तर-औद्योगिक समाज की राजनीति:

मई 1969 में न्यूयार्क टाइम्स ने एक सनसनी खेज़ खुलासा करते हुए जब लिखा कि अमरिकी खुफिया संस्था सी.आइ.ए कम्युनिस्ट विरोधी ढेर सारे लिबरल संगठनों व व्यक्तियों जैसे कि कॉग्रेस फ़ॉर कल्चरल फ़्रीडम और उसकी कई पत्रिकाओं को गुप्त तौर पर फ़ंडिंग करती है तो वौद्धिक जगत में तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। संबद्ध लोगों में से ज़्यादातर लोगों ने अपनी अभिज्ञता ज़ाहिर करते हुए खेद व्यक्त किया- कंठ ने कुट्टी तक कर ली। संस्था की सार्वजनिक छवि एक तरह से धूल में मिल गयी। स्वतंत्रता को जीवन और चिंतन की नींव मानने वाले अचानक खुद ही परतंत्र और परास्रित साबित हुए। इस बीच डेनियल बेल क्या कर रहे थे। वे उन लोगों में शामिल थे जो सी.सी.एफ के बैनर को हटाकर international association for cultural

freedom (i.a.c.f) के बैनर तले एक बार फिर से सक्रिय हुए। इस बार फंडिंग का खुल्लम-खुल्ला बीड़ा उठाया फोर्ड फ़ाउंडेशन ने। सी.सी.एफ का मूल मंत्र जैसे ' विचारधारा का अंत' था वैसे ही आइ.ए.सी.एफ का मूल मंत्र बना- 'उत्तर- औद्योगिक समाज'। पहले ने 'अंत' मार्का कई प्रोडक्ट पैदा किये और करते रहे, वैसे ही अब हर सै पर 'उत्तर' सवार हो गया जैसे कि 'उत्तर- आधुनिक', 'उत्तर-संरचना', 'उत्तर- राजनीति', उत्तर-ज्ञान आदि-आदि। इनमें से कुछ चीजे एक पड़ाव से दूसरे में संक्रमण को भी द्योतित करती है

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद का समय विश्व व्यवस्था में नये स्वाधीन देशों के उभरने, कई देशों में स्वाधीनता आंदोलनों के जोर पकड़ने और नव-जनवादी क्रांतियों के घटित होने का समय है- यानी कि एक नयी विश्व व्यवस्था के बनने का समय। मगर तब औपनिवेशिक विश्व से स्वाधीन विश्व में बदलते- बदलते यह दुनिया नव- साम्राज्यवादी विश्व में भी बदलती है। इस तरह नव-स्वाधीन या फिर स्वाधीनता की लड़ाई लड़ते देशों से औपनिवेशिक-नव-साम्राज्यवादी ताकतों का अंतर्विरोध तीखा और गहरा है। उधर सोवियत संघ और समाजवादी देशों ने खुद को औपनिवेशिक-नव-साम्राज्यवादी जकड़ से अलग कर लिया है। वे नव-स्वाधीन और स्वाधीनता की लड़ाई लड़ते देशों के साथ औपनिवेशिक-नव-साम्राज्यवादी शोषण-दमन और प्रचार तंत्र के खिलाफ लगातार संघर्षरत हैं। औपनिवेशिक-नव-साम्राज्यवादी ताकते तीसरी दुनिया के देशों को विकास का सपने दिखाकर अपनी शर्तों पर या तो कर्ज देकर या पूँजी निवेश करके उनके संसाधनों का दोहन करती हैं- फलस्वरूप वे उनके लिए कच्चे माल का स्रोत और बाज़ार में दब्दिल हो जाते हैं। अपने इस कृत्य को छिपाने के लिए वे ताकतें लिबरल डेमोक्रेसी और मेटाफिजिकल आज़ादी को अपना अस्त्र बनाती हैं। इस अस्त्र को चलाने के लिए तरह- तरह से प्रचार तंत्रों का इस्तेमाल किया जाता है। वस्तुतः सर्वसत्तावाद और स्तालिनवाद उनके लिए इस अस्त्र को चमकाये रखने वाले साधन ही हैं। फिर तीसरी दुनिया के शासक वर्ग भी उनके सहयोगी के बतौर इस सघन का इस्तेमाल सत्ता में बने रहने की खातिर करते रहते हैं। वे उनके वुद्धिजीवियों के लिए नव-साम्राज्यवादी केंद्रों से मैसिव फंडिंग या महत्व के प्राइज़ पाने के कारगर साधन भी हैं। नोबेल प्राइज़ तक पाने के साधन। मगर स्तालिन की मृत्यु और खासकर बीसवी कॉंग्रेस(सन् 53) में ख्रुश्चेव के भाषण के साथ परिस्थिति बदलती है। सोवियत संघ सोसल ट्रांसफॉर्मेशन का माध्यम अब विज्ञान और तकनीकी विकास को मानने लगा है क्योंकि शीत युद्ध ने उसे कई जेनरेशन आगे के हथियारों और खर्चीली तकनीक के अवांछित होड़ में डाल दिया है। पार्टी तंत्र में मैनेजेरियल प्रवृत्ति हावी हो गयी है सो अलग- ज़ाहिर है इस दौर में विचारधारात्मक संघर्ष को हल्के में लिया गया है- शायद इस कारण से कि पार्टी अन्दरूनी संकटों में फँसकर आत्मविश्वास खो चुकी है और इस कारण सार्वजनिक नेतृत्व कमज़ोर पड़ा है। फिर इन सब कारणों से पूर्व के शासक वर्ग की गतिविधियाँ मायने रखने लगी हैं। चीन अभी क्षेत्रीय ताकत है। समाजवादी देश भी सोवियत लाइन को मान रहे हैं। तीसरी दुनिया के देशों में जो कम्युनिस्ट आंदोलन चल रहे हैं उनसे सोवियत संघ का संबंध औपचारिकता के निर्वाह भर रह गया है। वह वस्तुतः इन देशों के सरकारों से संबंध बनाने में मुब्तिला है। तात्पर्य यह कि समाजवादी देशों ने विश्व राजनीतिक व्यवस्था में लिबरल प्रजातंत्रों के साथ और विकास के मेटा-नैरेटिव के साथ अपने सामाजिक परिवर्तन को जोड़ लिया है। यानी कि एक तरह से उनके लिए भी अब विचारधारा का अंत' हो जाता है। इस परिस्थिति में इतिहास की रैखिक अवधारणा को रचते हुए नव-साम्राज्यवादी प्रोपगेंडा मैकेनिज्म अपने वौद्धिक और तकनीकी संसाधनों का इस्तेमाल करके उत्तर-औद्योगिक समाज की अवधारणा को प्रचारित-प्रसारित करने में मुब्तिला हो जाता है।

इस सूरतेहाल में अब अमेरिकी विकास मॉडल और विश्वनीति को विश्वव्यापी स्वीकृति भी मिल जाती है और वैधता भी। अब गुटनिरपेक्षता और तीसरी दुनिया की राजनीति की ज़मीन खिसक जाती है, भले ही राजनीति चलती रहती है। बाद को पहले पूर्वी- यूरोप के समाजवादी देश और सोवियत संघ भी अमेरिकी ऋण और डायरेक्ट पूँजी निवेश के मकड़ जाल में फँसते हैं, मगर इससे पहले तीसरी दुनिया के अधिकांश देश आत्मनिर्भरता के आवेग और विचारधारा को गवाँ चुके होते हैं। वे नव-साम्राज्यवादी केंद्र के प्रति इस हद तक समर्पित हो चुके रहते हैं कि जब दशकों पूर्व निष्प्राण हो चुकी सोवियत व्यवस्था ढहती है तो इनके नगरों-उप-नगरों में जश्न मनता है। सवाल है कि आत्मनिर्वासन का यह आलम कैसे पैदा हुआ है और किनके बीचा कम-

से-कम अपने यहाँ ये वही लोग हैं जो भारत में ज्ञान-समाज, सूचना-समाज, उत्तर-राजनीति, उत्तर-संरचनावाद, उत्तर-आधुनिकता और आखिरकार उत्तर-औद्योगिक समाज तक के इकट्ठे दर्शन करते हैं। करें क्यों नहीं- आखिरकार इनके सिद्धांतकारों से टकराने की कूबत किसमें है- और वह कूबत आये भी तो कहाँ से- न कोई इन्नोवेशन है, न आंदोलन। अगर छोटी- मोटी गतिविधियाँ हैं भी तो मध्यवर्गीय परास्रयिता की आँधी में तिनका साबित हो रही हैं। वुद्धिजीवी वर्ग को यह परास्रयिता गहरे तक पैठ कर जकड़ चुकी है। सवाल है कि यह परास्रयिता पैदा कैसे हुई है। आज़ादी के बाद से हम आत्म- निर्भर देश बना रहे थे- कल्याणकारी राज्य के संकल्पों के साथ- - निर्यात प्रतिषेध की नीति के साथ- स्टेट कैपिटलिज्म को अंगीकार करके। मगर नब्बे तक आते-आते हम ऋणग्रस्त देश बन गये। उपर से फॉरेन एक्सचेंज की समस्या गहन हो गयी सो अलग। इन समस्याओं से निबटते हुए भारत ने खुद को बगैर किसी अपनी परियोजना के खोल कर रख दिया। इसने सारे मर्ज़ का इलाज पहले विदेशी ऋण और बाद को एफ.डी.आइ में देखा। फिर तो फॉरेन करेंसी आने लगी- पहले विदेशी ऋण और बाद को एफ.डी.आइ और पोर्टफोलियो इन्वेस्टमेंट के माध्यम से। मगर बैलेंस और ट्रेड दिनोंदिन और भी खस्ताहाल होता गया। इस बीच हमने डिस- इन्वेस्टमेंट की नीति चलायी और उसके लिए तर्क जुटाये- मगर बैलेंस ऑफ ट्रेड निगेटिव ही बना रहा। तो हम पहले की तरह अपने नेचुरल रिसोर्स से भरपायी करते रहे। खुलेपन की नीति से हमने पाया क्या। जवाब है- चंद नौकरियाँ और 'उत्तर' होने का छद्म अभिमान। हमने गँवाया क्या- जवाब है- आत्मनिर्भरता का भाव और गति- बल्किदोनों ही- बल्कि एक तरह से देश को ही गँवाया क्योंकि 'उत्तर' वाली संकल्पना में देश अँटता ही नहीं- उसका क्रिमी लेयर बस छू भर जाता है। इस बीच न तो अपने यहाँ औद्योगीकरण की प्रक्रिया पूरी हुई, न मैसिव शहरीकरण हुआ मगर हम उत्तर- औद्योगिक होने का भ्रम पालने लगे। इस भ्रम में हमें पता ही नहीं चला कि अपना जो असामान्य तौर से बढ़ा हुआ सेवा क्षेत्र है वह 'अन्य' की परियोजना का हिस्सा है- अन्य के लिए डायरेक्टेड- अन्य के लिए संसाधन और संजीवनी खींचने वाला। बहुत पहले, सन् 68 में हैरी मैगडौफ ने अपने एक अध्ययन में दिखाया था कि एफ.डी.आइ के माध्यम से सन् 1950-65 के बीच विश्व के विभिन्न देशों में अमरिका ने जितना पूँजी निवेश किया था उसकी तीगुनी राशि 16 इस कालावधि में वह मुनाफे के बतौर निकाल चुका था। फिडेल कास्ट्रो ने सन् 83 में गुट- निरपेक्ष राष्ट्रों के सातवें सम्मेलन में ऐसे मुनाफे को एक दूसरे संदर्भ में चार गुना बतलाया था। इसका मतलब यह है कि विकास का पूरी दुनिया में अभी जो अप्लायड मॉडल है वह नव-साम्राज्यवाद के लिए शोषण का एक और मेकेनिज्म है, वह भारत जैसे देशों को परास्रित और आत्मनिर्वासित बनाये रखने का साधन भी।

संदर्भ सूची

- 1 इमेट केनेडी(emmet Kennedy): आइडियालॉजी फ़ॉर्म डेसटूट डि ट्रेसी टु मार्क्स, जनरल औफ हिस्ट्री औफ आइडिया 40:30 जुलाई- सितम्बर 1974
- 2 स्कॉट स्मिथ: द पॉलिटिक्स औफ अपॉलिटिक्स कल्चर पृष्ठ 142
- 3 मैकलेलैन(McClellan): आइडियोलॉजी पृष्ठ 8
- 4 कार्ल मार्क्स- फ्रेडेरिक एंगेल्स: जर्मन आइडियोलॉजी 1964 पृष्ठ 360
- 5 वही पृष्ठ 142
- 6 मार्क्स एण्ड एंगेल्स: सेलेक्टेड करोसपोन्डेंस, लंडन पृष्ठ 511
- 8 टेरी ईगल्टन: आइडियोलॉजी, वरसो, लंदन-न्यूयार्क 1991 पृष्ठ 41
- 9 डेनियल बेल: द कमिंग औफ पोस्ट- इंडस्ट्रियल सोसायटी पृष्ठ 34
- 10 माइकेल वार्नर: आरिजीनस् औफ द कॉग्रेस फौर कल्चरल फ्रिडम पृष्ठ 91
- 11 वही पृष्ठ 94
- 12 वही पृष्ठ 94
- 13 डेनियल स्ट्रैन्ड: नो अलटरनेटिव, स्टॉकहोम यूनिवर्सिटी 2016 पृष्ठ 100

- 14 रेमंड एरोन: नेशन एण्ड आइडियोलॉजी, इन्कांटर 1955 पृष्ठ 31
- 15 डेनियल स्ट्रैन्ड: नो अल्टरनेटिव, स्टॉक होम यूनिवर्सिटी 2016 पृष्ठ 100
- 16 हैरी मैगडौफ: द एज ऑफ इम्पेरियलिज्म, आकार, दिल्ली 2010 पृष्ठ 198
- 17 फिडेल कास्ट्रो: द वर्ल्ड इकोनॉमिक एण्ड सोसल क्राइसिस, नई दिल्ली 1983 पृष्ठ 13

वीरेन्द्र कुमार सिंह
एल.एस.कॉलेज मुजफ्फरपुर
बी.आर.अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय (बिहार)